Paper For Sahmat Seminar

on 14-10-2011

प्रगतिशील आलोचना : एक पुनर्विचार

चंचल चौहान

भूमिका : पर्सपेक्टिव में टकराव

सामाजिक जीवन में घटित होने वाले हर घटनाक्रम को देखने और व्याख्यायित करने के दो पर्सपेक्टिव या नज़रिये रहे है : एक : पारंपरिक व्यक्तिकेंद्रित , दूसरा : नया और समाज केंद्रित । प्रगतिशील आंदोलन के जन्म, विकास और विघटन को लेकर भी इन्हीं दो नज़रियों का टकाराव देखा जा सकता है -- व्यक्तिकेंद्रित नज़रिए के मुताबिक प्रगतिशील आंदोलन का उभार चंद लेखकों के दिमाग़ की उपज था जिन्होंने इंगलैंड में इसकी योजना बनायी और अप्रैल 1936 में उन्होंने भारत आ कर लखनऊ शहर में सम्मेलन करके इसकी स्थापना कर डाली। हिंदी-उर्दू साहित्य के इतिहास की ढेर सारी किताबों और पाठ्य पुस्तकों में इसी तरह की सामग्री लिखी हुई मिलेगी क्योंकि परंपरा ने ज्यादातर लोगों को यही सिखाया है या कहें वही पुराना क्लासिकल फ़लसफ़ा दिया है कि परिवर्तन महापुरुष करते हैं, `यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति...´ का फ़लसफ़ा जिसे तुलसी दास ने अवधी में अनूदित करके गा दिया, `जब जब होइ धरम कै हानी/ बाढहिं असुर अधम अभिमानी/ तब तब धरि प्रभु मनुज 'सरीरा / हरहिं कृपानिधि सज्जन भीरा´। आधुनिक युग में भी इस फ़लसफ़े का बोलबाला है, अख़बार और अन्य संचार माध्यमों में इसी पर्सपेक्टिव से दुनिया को देखा जाता है, राजनीति में जो घटित होता है, उसे एक नेता ही करता है, भारत को आज़ादी दिलायी महात्मा गांधी ने, आज़ाद भारत में जो कुछ हुआ वह नेहरू, इंदिरा गांधी, राजीव गांधी ने किया, अब सोनिया गांधी,और राहुल गांधी कर रहे हैं। इसी तरह क्रांति होगी तो कोई लेनिन या माओ या हो ची मिन्ह पैदा होगा सो क्रांति कर देगा। साहित्य में भी यह नज़रिया खूब काम आता है। आठवें दशक में एक कवि ने `क्रांति के सूत्रधार´ का आह्वान इसी नज़रिये से किया! और कहा कि अगर चंद कोयले भड़क उठें तो आग फैल जाएगी।

दूसरा नज़रिया जिसे प्रगतिशील आंदोलन ने समाज को दिया, हर घटनाक्रम को जिसमें साहित्य भी शामिल है दुनिया में और अपने समाज में चल रही उथल पुथल और विकास की प्रक्रिया से जोड़ कर देखने को सही मानता है, चंद व्यक्तियों या किसी महापुरुष या संत के करिश्मा का परिणाम नहीं मानता। आलोचनाशास्त्र में प्रगतिवाद ने इसी नज़रिये को विकसित करने का अभूतपूर्व काम किया। गजानन माधव मुक्तिबोध ने "प्रगतिवाद : एक दृष्टि" शीर्षक से 1942 में लिखे अपने एक लेख में कहा : "जीवन की दृष्टि से प्रगतिवाद आज तक की सबसे ऊंची मंज़िल है।---" मुक्तिबोध में हम प्रगतिवादी कविता का तो सबसे ऊंचा कलात्मक रूप पाते ही हैं, आलोचना और सौंदर्यशास्त्र पर भी उनका लेखन सर्वहारावर्ग की विश्वदृष्टि से दुनिया भर में लिखी गयी कृतियों से किसी भी तरह कम नहीं, इसका श्रेय प्रगतिवादी आंदोलन को ही जाता है, जिसकी ऐतिहासिक उपस्थिति ने विश्वभर में अनेक रचनाकारों को ऐसी ही चेतना से संपन्न किया था।

पहला चरण : 1936 - 1953 : प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से ले कर विघटन तक

प्र ले स की स्थापना जिस दौर में हुई वह दुनिया में फ़ासिज्म का दौर था, नाज़ियों के इरादे पूरी दुनिया को अपने कब्ज़े में कर लेने के थे, विश्वसाम्राज्यवाद का वह सबसे घिनौना रूप था जो पूंजीवाद के उत्थानकाल के और फ्रांस की पूंजीवादी क्रांति से उभरे मानवीय मूल्यों को तहसनहस कर डालने पर आमादा था, ऐसे में दुनिया भर के संवेदनशील लेखकों ने एकजुट हो कर फ़ासिज्म की विचारधारा से संघर्ष

करने का आह्वान किया और इसी प्रक्रिया में सभी देशों में लेखक प्र ले स की ही तरह संगठित हुए और कुछ एक ने तो सेनानी बन कर फ़ासिज्म के खिलाफ़ लड़ते हुए अपना जीवन ही बलिदान कर दिया। इस प्रक्रिया में रचनात्मक साहित्य और आलोचना व सौंदर्यशास्त्र भी एक दम नयी शक्ल अख्तियार करने लगे। भारत में संगठन के रूप में इसका वर्गाधार व्यापक था जिसमें भारतीय पूंजीवादी शक्तियों समेत साम्राज्यवादविरोधी सभी वर्ग और उनके विचार शामिल थे, यह विचारों का एक साझा मोर्चा था, आज़ादी के बाद नए वर्गीय संतुलन के वजूद में आ जाने से उसका विघटन होना अपरिहार्य था, इसलिए 1953 में उसका विघटन हो गया, यह किसी एक व्यक्ति की या दो चार लेखकों की इच्छा या अनिच्छा का परिणाम नहीं था, जैसा कि बहुत से विद्वानों ने लिख मारा है, ऐसे विद्वानों में रामविलास शर्मा समेत बहुत से प्रगतिशील लेखक भी रहे हैं।

<u>दूसरा चरण : 1953 - 1967 : आधुनिकतावादी और सर्वनिषेधवादी आंदोलन से संघर्ष का असंगठित दौर</u>

यह दौर प्रगतिशील लेखन का असंगठित दौर था और मुख्य धारा के रूप में आधुनिकतावाद नए नारों के साथ शीतयुद्ध की राजनीति के तहत साम्राज्यवादी विचारधाराओं के हाथों की कठपुतली बना हुआ था, जिसमें अकेलापन, ऊब, संत्रास, टूटन, अनिश्चय, अनिर्णय आदि को फ़ैशन के बतौर साहित्य का कथ्य बनाया जा रहा था। अज्ञेय की एक कविता, "सबेरे उठा तो", की ये पंक्तियां उस दौर की मध्यवर्गीय चेतना की तस्वीर पेश करती हैं:

> उस अनदेखे अरूप ने कहा : हां,
> क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं
> यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट,
> आर्त अननुभव, यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय विरह व्यथा,
> यह अंधकार में जाग कर सहसा पहचानना कि
> जो मेरा है वही ममेतर है

मुक्तिबोध इस आधुनिकतावादी फ़लसफ़े से विचारधारात्मक संघर्ष चला रहे थे, कविता में भी और अपने आलोचनात्मक लेखों के माध्यम से भी। उर्दू अदब में सज्जाद ज़हीर ने फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की क़ैदे तन्हाई पर लिखते वक्त जदीदियतपसंद दानिशवरों की चुटकी लेते हुए लिखा था:

> तन्हाई की भावनाओं का वर्णन करना हर कवि अपना पैदाइशी हक़ समझता है और आजकल कुछ एक शायरों और चिंतकों ने तो इसको बाक़ायदा फ़लसफ़े की शक्ल दे दी है और वे अपने तथाकथित अकेलेपन को इतनी अहमियत देते हैं जितना ज़ोर ख़ुदा को मानने वाले मुसलमान अल्लाह-त' आला के अकेले और अद्वितीय होने को देते हैं। लेकिन आप ज़रा फ़ैज़ की उस दर्दनाक लेकिन हसीन तन्हाई की कल्पना की कीजिए---

प्रलेस के विघटन के बाद अकेलेपन में डूबे आधुनिकतावादियों ने प्रगतिवाद के खिलाफ़ मुहिम चलायी, ऐसे साहित्य को `नया´ बताया, 'नयी कविता', 'नयी कहानी' आदि इसी दौर में आये। मध्यवर्ग के काफ़ी बड़े हिस्से इसके आकर्षण के घेरे में आ गए थे क्योंकि इसका बुनियादी नारा `व्यक्ति स्वातंत्र्य´ का था। मुक्तिबोध सरीखे लेखक ही इस मुहिम से मोर्चा ले रहे थे, मगर उस दौर की आंधी में उनकी आवाज़ असर नहीं कर पा रही थी। आधुनिकतावादी दौर की ही परिणति अकविता, अकहानी आदि सर्वनिषेधवादी साहित्य आंदोलनों में हुई। आलोचना में भी इस दौर का असर देखा जा सकता है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती से ले कर लक्ष्मीकांत वर्मा आदि तक आधुनिकतावाद के पैरोकार और प्रगतिवाद के ध्वंसक बन रहे थे। नामवर सिंह तक की आलोचना अमेरिकी न्यू क्रिटिसिज्म में तब्दील हो गयी थी।

<u>तीसरा चरण : 1967 - 1977 : नए सिरे से संगठित होने की कोशिशों के दौर में आलोचना</u>

1967 तक भारत की पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था का चरित्र लेखकों की चेतना में काफ़ी स्पष्ट होने लगा था, अवाम के भीतर भी बेहद बेचैनी थी जिसका प्रतिफलन ग़ैरकांग्रेसी संविद सरकारों के बनने में हुआ और उन सरकारों के बिखर जाने के बाद पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था द्वारा हर तरह के प्रतिरोधी स्वर पर दमनचक्र चला। आठवे दशक के शुरुआती बरसों में भारत के शोषकशासक वर्गों के सामने भयंकर आर्थिक संकट उपस्थित था, मध्यवर्ग समेत सारे शोषित समाज में व्यवस्था के प्रति आक्रोश था, इसी आक्रोश को वाणी दी नए उभरते रचनाकारों ने और फिर नए सिरे से एक शक्तिशाली वामपंथी उभार साहित्य में दिखायी देने लगा, जिसमें फिर से संगठित होने की आकांक्षा भी नज़र आ रही थी। संगठित होने के प्रयास भी हुए, बांदा सम्मेलन, आगरा सम्मेलन आदि के रूप में उन्हें याद किया जाता है। इज़ारेदार पूंजीवाद के आंतरिक संकट की परिणति एमरजैंसी में हुई जिसमें प्रतिरोध की हर आवाज़ को जेल की सलाखों के पीछे पहुंचा दिया गया। जनवादी अधिकार और लिखने की आज़ादी छीन ली गई। दुर्भाग्य से खुद को `प्रगतिशील´ कहने वाले नए चोले में गठित एक संगठन ने शोषकशासक वर्गों की सही पहचान न कर पाने के कारण एमरजैंसी जैसे अर्द्धफ़ासीवादी क़दम का समर्थन करके रचनाकारों के बीच अपनी साख गंवा दी। संगठित होने की कोशिशों की यह परिणति अफ़सोसनाक थी, इसलिए नए संगठनों के बनने की प्रक्रिया शुरू हो गई। इस पूरे दौर में एक ओर तो आधुनिकतावादी आलोचना और रचनाकर्म को लेकर भीषण बहसें चलीं और दूसरी ओर प्रगतिशील आलोचना की अंदरूनी तीखी बहस भी हुई ।

<u>चौथा चरण : 1977 - अब तक : एमरजैंसी का अनुभव और नए संगठित प्रयास</u>

एमरजैंसी ने लेखकों को पहली बार यह अहसास करा दिया कि जनवाद की रक्षा और उसका विकास संगठित हुए बग़ैर मुमकिन नहीं है। पूंजीवादी जनवाद को बंदरिया का तमाशा कहने वालों में से बहुतों को इसकी अहमियत दिखायी देने लगी और यह सत्य सामने आ गया कि शोषकशासक वर्ग ही इस जनवाद की हत्या करके किसी न किसी तरह की तानाशाही अवाम पर थोप सकते हैं, इसलिए समाज के विकास की प्रक्रिया में मेहनतकश अवाम का अपना जनवाद जब तक कायम नहीं हो पाता, इस जनवाद की रक्षा और इसका आगे विकास हम सब की ज़िम्मेदारी है, 1980 में यह अहसास और तेज़ हो गया जब एमरजैंसी थोपने वाली ताक़तों की वापसी होने लगी, साहित्य में `कविता की वापसी´ का नारा वजूद में आया। आलोचना में भी इसके अक्स दिखायी देने लगे। लेखकों एक बडा हिस्सा जिसे अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी प्यारी थी, नये संगठन के रूप में संगठित होने के लिए आगे बढ़ रहा था। इस विकसित चेतना का प्रतिफलन जनवादी लेखक संघ जैसे संगठनों के रूप में दिखायी दिया जिनका केंद्रीय पर्सपेक्टिव `जनवाद की रक्षा और विकास` है।

आठवें दशक में ही हिंदी आलोचना में पुरानी आलोचनापद्धतियों से विचारधारात्मक टकराव शुरू हो चुका था, रूपवादी आलोचना जिसकी शुरुआत आधुनिकतावादी दौर में ही अज्ञेय, भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि ने कर दी थी, नामवर सिंह की आलोचना कृति, *कविता के नये प्रतिमान* तक पर हावी हो गयी थी, उन्होंने *इतिहास और आलोचना* के समय की अपनी प्रगतिवादी आलोचना की बहुत सी मान्यताएं उलट दी थीं। रूपवाद की अगली कड़ियां रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के शैलीविज्ञान और विद्यानिवास मिश्र के रीतिविज्ञान की शक्ल में हिंदी में आयीं। इन तमाम आलोचना कृतियों में एक बात सब में कही गयी थी कि रचना का समाज, विचारधारा, राजनीति आदि से कोई नाता नहीं होता, वह सर्वस्वतत्र होती है। आधुनिकतावादी-रूपवादी प्रतिमानों व विज्ञानों के दौर के बाद मध्सवर्गीय सोच से मेल खाती उत्तरआधुनिकता कुछ लोगों के हाथ लग गयी, जिसे हिंदी और उर्दू में एक फैशन के तौर पर इस्तेमाल किया गया, इस विचारधारा में भी प्रगतिवाद की मान्यताओं का खंडन तो था ही, खुद पूंजीवाद के ज्ञानोदय काल के मूल्यों का भी नकार था, और अंतत: साहित्य में वह भी रूपवाद का ही बिगुल बजा रही थी, सब कुछ को सर्वस्वतंत्र 'टेक्स्ट' बता कर । इन विचारों से भी संघर्ष देश व विदेश में चला, जिससे विश्वस्तर पर जनवादी आलोचना का और अधिक विकास हुआ। हिंदी में इस दौर की जनवादी समीक्षा ने इस रूपवाद के खोखलेपन को उजागर किया और मुक्तिबोध की मान्यता को तर्कसंगत बताया कि रचना की सापेक्ष स्वायत्तता होती है, उसका नाता समाज, वर्गीय विचारों और अन्य सामाजिक अवयवों से होता है। इस तरह इस दौर की उभरती जनवादी आलोचना ने एक ओर आधुनिकतावादियों और उत्तरआधुनिकता से संघर्ष की उसी धार को आगे बढ़ाया

जिसे मुक्तिबोध ने अपने वक्त में शुरू किया था, दूसरी ओर प्रगतिशील ख़ेमे के भीतर की आलोचना की बहुत सी प्रवृत्तियों से भी मुठभेड़ की, इससे आलोचना में भी नया विकास हुआ जिसमें रचनाकार की निजी ज़िंदगी के बजाए रचना के विश्लेषण और उसके वर्गीय कलात्मक सारतत्व पर ज्यादा ध्यान केंद्रित किया गया।

75 बरसों का आलोचनात्मक विहंगावलोकन

भारत में नए यथार्थवादी नज़रिए से सांस्कृतिक विकास के संगठित और असंगठित प्रयास को 75 बरस हो गये हैं। इन बरसों में संस्कृति के सभी क्षेत्रों -- साहित्य, रंगमंच, फ़िल्म, चित्रकला आदि -- में जनवादी मूल्यों से प्रतिबद्ध अभूतपूर्व रचनाशीलता देखी गई। साहित्य की भी विधाओं को प्रगतिशील आंदोलन ने विश्वस्तर की रचनाशीलता से समृद्ध किया। हिंदी-उर्दू साहित्य में जो सबसे अधिक उत्कृष्ट है वह इसी आंदोलन से प्राप्त नज़रिए से वजूद में आया। इस आंदोलन ने कई चोटी के रचनाकार हमारे समाज को दिए। मुक्तिबोध, शमशेर और फ़ैज़ में इन ऊंचाइयों को देखा जा सकता है। इन रचनाकारों ने अपने आलोचनात्मक लेखन में प्रगतिवादी आलोचना की कमज़ोरियों को भी आत्मालोचन के बतौर रेखांकित किया था। इस आंदोलन की कुछ वैचारिक कमज़ोरियों पर हमारी नज़र भी जाती है। ये कमज़ोरियां भी रचनाकारों की निजगत कमज़ोरियां नहीं हैं, बहुत सी सदियों की सामंती परंपरा से मिली हैं, बहुत सी आज के इज़ारेदार-सामंत पोषित विचारों और फ़लसफ़ों ने पैदा की हैं जो मध्यवर्ग को अपनी गिरफ्त में ले लेते हैं। आज ये कमज़ोरियां आलोचना में आसानी से देखी जा सकती हैं।

एक कमज़ोरी जो सदियों से जड़ जमाए सामंतवाद ने प्रगतिशील कहे जाने वाले हिस्सों में भी पैदा की है, वह है व्यक्तिकेंद्रित नज़रिया जिसे `प्रगतिशील´ राजनीति में भी देखा जाता है और साहित्य को देखने परखने यानी साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में भी। राजनीति में एक वक्त यह कहा जाता था कि इंदिरा गांधी प्रगतिशील हैं, संजय गांधी प्रतिक्रियावादी, इस तरह के विचार हर नेता के बारे में बने हुए होते थे। आलोचना में भी प्रगतिशील आलोचकों में से ज्यादातर आज भी लेखकों को इसी तरह की उपाधियों से नवाज़ते रहते हैं । उनकी रचनाओं की परख भी उनकी निजी जिंदगी से ही की जाती है। पश्चिम में इसे `बायोक्रिटिसिज़्म´ कहा जाता है जिसे रोलां बार्थ से ले कर टेरी ईगलटन तक हर समझदार आलोचक ख़ारिज कर चुका है, हिंदी में इस तरह की प्रगतिशील आलोचना अब तक खूब लिखी जा रही है। प्रगतिशील आलोचना के प्रारंभिक दौर के प्रकाशचंद्र गुप्त और रामविलास शर्मा से ले कर अब तक के कई सक्रिय आलोचक भी रचनाकार के निजी जीवन से जोड़ कर ही रचना की व्याख्या करते हैं या उसे अच्छा या बुरा साबित करने में लगे रहते हैं, ये आलोचक, रचना का विश्लेषण भी रचना को केंद्र में न रख कर और उसमें निहित सामाजिक यथार्थ या वर्गीय यथार्थ की तलाश न करके, रचनाकार की निजी ज़िंदगी तलाश करने में लगे रहते हैं और फिर मनमाने तरीक़े से सामंतो की तरह उसे या तो महान घोषित कर देते हैं, या उसका चरित्रहनन करके खारिज कर देते हैं। निंदा या प्रशंसा को ही आलोचना माना जाता है जिसकी शिकायत एक ज़माने में दुखी हो कर मुंशी प्रेमचंद तक ने की थी। व्यक्तिकेंद्रित सामंती पर्सपेक्टिव से हिंदी आलोचना अभी तक नहीं उबरी है।

दूसरी सबसे बड़ी कमज़ोरी जो उक्त पर्सपेक्टिव से ही जुड़ी है, संकीर्णतावाद की है। इस कमज़ोरी के असर में रचनाकारों कलाकारों को `प्रोग्रेसिव´ और `रिएक्शनरी´ खानों में खतियाने की है। इस कमज़ोरी का मूल कारण आज के भारतीय समाज की विकास की मंज़िल और उसे आगे ले जाने के लिए ज़रूरी वर्गीय क़तारबंदी को ठीक से न पहचानने में छुपा हुआ है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के किताबी ज्ञान से ही काम चलाना किसी को आदर्शवादी तो बना सकता है, उसे समाज और विचारों की दुनिया के ऐसे विश्लेषण के लायक़ क्षमता प्रदान नहीं कर सकता जिसमें हर क्षण क्रांतिकारी शक्तियों की "रणनीति और कार्यनीति" के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को देखना परखना ज़रूरी होता है। किताबी ज्ञान एक तरह के सर्वशुद्धतावाद को जन्म देता है जिसकी परिणति संकीर्णतावाद में होती है और यह संकीर्णतावद प्रगतिशील आंदोलन और प्रगतिशील ज्ञानधारा को नुक़सान पहुंचाता है, जाने अनजाने यथास्थिति के हित में जाता है। इस आलोचना में ज्यादातर मध्यवर्ग के प्रति हिकारत का भाव रहता है, ऐसे रचनाकारों

कलाकारों को 'एलीट' कह कर उनके जनवादी रचनाकर्म को ख़ारिज करने की प्रवृत्ति खूब देखी जा सकती है। साहित्य में ऐसे बहुत से बेहतरीन रचनाकारों के रचनाकर्म में निहित जनवादी मूल्यों को अनदेखा करके उन्हें प्रतिक्रियावादी साबित करने में अपनी पूरी आलोचनात्मक ताक़त लगायी जाती है। रामविलास शर्मा का आलोचनाकर्म तो इसका उदाहरण है ही, आज भी बहुत से नये पुराने आलोचक जो खुद को लोकपक्षीय और जनवादी कहते नहीं थकते, इसी तरह की कीचड़उछाल आलोचना में आनंद लेते हैं। प्रगतिशील आलोचना का यह अफ़सोसनाक पहलू है जिससे मुक्ति हाल फिलहाल दिखायी नहीं देती।

<u>सामाजिक यथार्थ के बदले हुए पहलू और लेखन की मौजूदा दशा दिशा :</u>

प्रगतिशील आलोचना को इस सत्य को अनदेखा नहीं करना चाहिए कि रचनाकार संवेदनशील प्राणी पहले होता है, बाद में वह अपनी संवेदना को किसी न किसी कला रूप में रच कर समाज से शेयर करना चाहता है। आज भी यही होता है, ऐसे तमाम सामाजिक सवाल जो उसे परेशान करते हैं, कला और साहित्य में समाहित हो कर आते हैं, प्रेमचंद ने 75 साल पहले शायद इसी समझ के असर में कहा था कि लेखक स्वभावत: प्रगतिशील होता है। आलोचना में संकीर्णतावाद से ऊपर उठने की ही यह सलाह थी । यह सही है कि अगर लेखक पूरे समाज के लिए एक बेहतर ज़िंदगी, बेहतर मूल्यव्यवस्था, बेहतर भौतिक दुनिया का सपना नहीं देख़ता, और उस सपने के तहत मौजूदा समाज और विश्व की असह्य गंदगी की आलोचना नहीं करता और भोले भाले इंसानों पर किए जाने वाले अत्याचारों, शोषण दमन के ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाता तो फिर लेखक किस बात का ? वाल्मीकि कवि कहलाये तो इसी तरह की संवेदना की वजह से, क्रौंच युगल पर अत्याचार करने वाले वधिक के घिनौने कृत्य से विचलित हो कर पहली रचना उन्होंने की। कबीर अगर कबीर हैं तो इसीलिए कि ब्राह्मणवाद और मुल्लामौलवियों की जकड़बंदी से कराह रहे समाज की चेतना में बसे अंधविश्वास और अज्ञान से मुक्ति की ज़रूरत उन्हें महसूस हुई। आज़ादी की लड़ाई में साहित्य ने उन्हीं जनवादी मूल्यों को समाज के सामने रखा जिनसे बेहतर सांस्कृतिक आदमी की रचना हो सके। इसलिए साहित्य में समाज उसी रचनाकार को जगह देता है जो प्रगतिशील मूल्यों को रचना की शक्ल में पेश करता है, बाक़ी नदी की धार में कूड़ा करकट बन कर किनारे लग जाता है। यह चेतना आज के रचनाकारों में है, इसीलिए वे अपने समय और समाज के प्रति अपने दायित्व से वाक़िफ़ हैं।

आज विश्वपूंजीवाद ने अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी से अपना वर्चस्व क़ायम करने की जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मुहिम नवसुधारवाद और भूमंडलीकरण के माध्यम से चलायी हुई है। उसकी पहचान हर संवेदनशील लेखक की जागरूक चेतना में मौजूद है। भले ही वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के वैज्ञानिक फ़लसफ़े में पारंगत न हो। वह विश्वपूंजीवाद के द्वारा पैदा किए गए मायावी संसार और उससे पैदा हुई अवाम की तकलीफ़ों को वाणी दे रहा है। ये तकलीफें उसे किसानों की आत्महत्याओं, संगठित और असंगठित मज़दूरों, बेरोज़गारों और आम ग़रीबों की बिगड़ती हालत में दिखायी दे रही हैं और आज का लेखक उन्हें चित्रित कर रहा है। पूंजीवाद संकट के नये दौर में प्रवेश करने वाला है, आने वाले दिनों में मध्यवर्ग की तकलीफें भी बढ़ेंगी, तब यही लेखक उन तकलीफों को भी वाणी देगा ही। इस नज़रिए से आज भी लेखक कलाकार प्रगतिशील है। क्योंकि उसमें अपने वक़्त की एक जनवादी चेतना भी है जो उसे प्रभावित कर रही है। यह ज़रूर है कि इस दौर के बहुत से उत्तरआधुनिकतावादी सर्वनिषेधवादी नारे भी मध्यवर्गीय लेखकों के एक हिस्से की चेतना पर असर डाल रहे हैं जिनसे आलोचना के स्तर पर आज विचारधारात्मक संघर्ष भी चल रहे हैं, देश में भी और विदेशों में भी। आज के रचनाकर्म की दशा और दिशा का ज्ञान यदि आलोचना नहीं कराती तो वह सभ्यता समीक्षा के रूप में अपना कर्तव्य नहीं निभा पायेगी

Chanchal Chauhan
173 Kadambari
Sector 9

Rohini
Delhi-110085
M-9811119391
Email: chanchalchauhan1941@gmail.com